

व्यवहारवादी समाजशास्त्र अध्याय - १

व्यवहारवादी समाजशास्त्र: परिचय

इसके लिए कार्यक्रम

अखण्ड समाज-सार्वभौम व्यवस्था की अवधारणाओं को स्थापित करना इस “व्यवहारवादी समाजशास्त्र” का उद्देश्य है । इसके लिये समुदायवादी समाज कहलाने वाले मूल कारणों को और अखण्ड समाज-सार्वभौम व्यवस्था सूत्र-व्याख्या रूप में जीना समझा गया है ।

1. मानव शरीर रचना रूपी नस्लों में विविधता ।
2. रंगों में विविधता ।
3. मानव अपने आस्थावादी विचारों से ऊपर कहे दो विविधता से उत्पन्न भय और प्रलोभन से मुक्ति अथवा राहत पाने के अर्थ में किये गये प्रयासों में अन्तर्विरोध और विविधता ।
4. सुविधा-संग्रह में विविधता और अन्तर्विरोध ।
5. दर्शन, विचारों में यथा-आदर्शवादी और भौतिकवादी विचारधाराओं में रहस्य, अनिश्चयता, अस्थिरता से ग्रसित होने के आधार पर अन्तर्विरोध और विविधताएं ।

इन्हीं पाँच कारणों के आधार पर सम्पूर्ण प्रकार के व्यवहार, आचरण, उत्सवों में परस्पर अन्तर्विरोध होने के कारण ये सभी मिलकर, जुड़कर, घटकर भी मानव संतुष्टि का आधार नहीं बन पायी ।
जैसे -

1. सर्वमानव को न्याय चाहिए न कि फैसला ।
2. सर्वमानव को व्यवस्था चाहिये, न कि शासन ।
3. सर्वमानव को समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व चाहिये न कि अतृप्ति से ग्रसित संग्रह, सुविधा एवं रहस्य ।

इन आशयों के सकारात्मक पुष्टि और उसके प्रमाण ऊपर कहे गये दोनों प्रकार की विचारधाराओं से बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक सार्थक होना संभव नहीं हुआ । इसी रिक्ततावश मानव मन में

विविध प्रकार की पीड़ा का कारण होना स्वाभाविक रहा । ऐसी पीड़ा के आधार पर ही अनुसंधानपूर्वक यथा अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन में पारंगत होने के उपरान्त ही, सह-अस्तित्ववादी परिपक्व सार्थक विचारों के आधार पर विज्ञान सम्मत एवं विवेक सम्मत विधि से सर्वमानव में जो व्यवहार में सामाजिक और व्यवसाय में स्वावलंबी होने का आशय रूपी ध्रुव है, इसके संतुष्टि को और उसकी अनिवार्यता को अनुभव किया गया है । फलस्वरूप व्यवहारवादी समाजशास्त्र की परिभाषा अखण्ड समाज-सार्वभौम व्यवस्था के रूप में सह-अस्तित्व और जागृति सूत्र के आधार पर व्याख्यायित हुई । जिसका स्वरूप शैक्षणिक विधि से सर्वसुलभ होने के साथ-साथ उसके सुयोग्य पद्धति प्रणाली सहित स्वायत्त मानव के रूप में प्रमाणित होने की सम्पूर्ण विधियों को बोध और हृदयंगम किया गया । बोध का तात्पर्य अनुभव की रोशनी में अथ से इति तक वस्तु के रूप में स्वीकारने से है । हृदयंगम का तात्पर्य विज्ञान सम्मत विवेक-विवेक सम्मत विज्ञान से है । विज्ञान का तात्पर्य कालवादी क्रियावादी निर्णयवादी विधि से और विवेक का तात्पर्य मानव प्रयोजन रूपी समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व के रूप में पहचाना गया है । इसे सर्वविदित कराने की इच्छा से इस व्यवहारवादी समाज शास्त्र को संप्रेषित किया है ।

इस व्यवहारवादी समाजशास्त्र में विज्ञान और विवेक सम्मत विधि से जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान को मानव प्रयोजन जागृति, विकास और पूरकता जैसे सार्वभौम वस्तुओं के योग-संयोग विधि सहित अध्ययनगम्य कराया गया है । इस तथ्य की भी सूचना, परिचय प्रस्तुत किया गया है कि परमाणु ही अस्तित्व में निरंतर पाये जाने वाले व्यवस्था का आधार है । इसी के साथ-साथ अस्तित्व में सम्पूर्ण इकाई अपने 'त्व' सहित व्यवस्था होना प्रतिपादित किया गया है । इसी क्रम में परमाणु ही विकासपूर्वक अर्थात् परमाणु अंश बढ़ने की विधि से 'परमाणु तृप्ति' के बिन्दु को पहचाना गया है । परमाणु तृप्ति के लिए जितने परमाणु अंशों की आवश्यकता है उससे अधिक होने पर अजीर्णता को और कम होने की स्थिति में भूखे की संज्ञा में आना देखा गया है । साथ ही तृप्त परमाणु ही जीवन पद में वैभूवित होना देखा गया है । यही चैतन्य इकाई है, जिसमें अक्षय शक्ति, अक्षय बल होना स्पष्ट हुई है । ऐसे अक्षय-शक्ति, अक्षय-बल को मानव में अध्ययनपूर्वक प्रमाणित होने के सम्पूर्ण विधियों को समझा गया है । जिसका सामान्य अध्ययन इस व्यवहारवादी समाजशास्त्र में प्रस्तुत किया गया है ।

व्यवहार में सामाजिक होने की अभीप्सा जीवन सहज रूप में हर जीवंत मानव में देखने को मिलती है । इसी आधार पर व्यवहारवादी समाजशास्त्र की आवश्यकता को अनुभव किया गया है । यही अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था को प्रतिपादित, सूत्रित, व्याख्यायित करने का एक ध्रुव रहा है । दूसरा ध्रुव अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व को जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना रहा है । अतएव अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के अध्ययन उपरान्त हर व्यक्ति अपने में, से, के लिये अखण्ड समाज चाहिये या संकीर्ण समुदाय चाहिये-यह निर्णय हर समझदार करेगा-यह मेरा विश्वास है ।

व्यवहारवादी समाजशास्त्र में इस लक्ष्य को बोध और हृदयंगम कराने की व्यवस्था है । मानवीय संविधान का धारक-वाहक मानव ही होना विश्लेषण पूर्वक स्पष्ट की गई है । इसका मूलरूप सर्वमानव मानवत्व सहित व्यवस्था होना एक निश्चित ध्रुव है, यह नियति क्रमानुषंगीय और जागृति क्रमानुषंगीय विधि के योगफल में निश्चयन हुआ है । दूसरा ध्रुव सह-अस्तित्व रूपी नित्य प्रभावी ध्रुव, नित्य वर्तमान है ही । इन दोनों ध्रुवों अथवा सभी ध्रुवों का दृष्टा मानव ही होना प्रतिपादित है । मानव दृष्टा पद प्रतिष्ठा में सर्वाधिक प्रयोजनशील होना प्रतिपादित, सूत्रित और व्याख्यायित है । इसी आधार पर हर व्यक्ति को जागृतिपूर्वक अभिव्यक्त, संप्रेषित और प्रकाशित करना देखा गया, समझा गया और इस व्यवहारवादी समाजशास्त्र में संप्रेषित किया गया । अस्तु, हर मानव जागृतिपूर्वक ही मानवत्व सहित व्यवस्था रूपी आचार संहिता और संविधान का धारक-वाहक होना स्पष्ट किया गया है जिससे ही मानव प्रयोजन अक्षुण्ण विधि से सफल होना कारण, गुण, गणित रूपी मानव भाषा से समझा दी गई ।

जागृत मानव परंपरा में स्वयंस्फूर्त विधि से ही मौलिक अधिकारों का प्रयोग स्वतंत्रता और परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था में भागीदारी के रूप में प्रमाणित होना है जिसकी सार्वभौमता सहज होना समझा गया है । इसे मानवीय शिक्षा-संस्कारपूर्वक सर्वसुलभ करना लोकव्यापीकरण होने की विधियों को भी अध्ययन सुलभ किया गया है ।

मानव में ही सार्वभौम संचेतना, संवेदनशीलता व संज्ञानीयता के संयुक्त रूप में प्रमाणित होना देखा गया है । संचेतना का स्वरूप को जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के रूप में अनुभव किया गया है । जानने, मानने की वस्तु के रूप में मूलतः सम्पूर्ण सह-अस्तित्व ही है । मानव ही

जागृतिपूर्वक अस्तित्व में दृष्टा पद का प्रयोग करने वाली इकाई है । इस तथ्य को भले प्रकार से हृदयंगम किया गया है । इसी तथ्य के आधार पर अस्तित्व में सह-अस्तित्व, सह-अस्तित्व में विकास, विकास क्रम में रासायनिक-भौतिक क्रियाकलाप फलस्वरूप पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीव शरीर और मानव शरीर की रचनाएं रचित-विरचित होने के तथ्यों को स्पष्ट किया गया है । साथ ही समृद्ध मेधसयुक्त जीव-शरीरों को जीवन ही संचालित करता हुआ वंशानुषंगीय क्रियाकलापों को सम्पादित करता हुआ होना, अध्ययन सुलभ हुआ और परमाणु विकास पूर्ण (गठन पूर्ण) होने के उपरान्त उसकी निरन्तरता के ध्रुव पर सह-अस्तित्व में ही अर्थात् ऊपर कहे रासायनिक भौतिक रचना और जीवन का सह-अस्तित्व के प्रमाण रूप में जीवनी क्रम को जीव संसार में प्रमाणित करने का अधिकार अध्ययन सुलभ हुआ है ।

ज्ञानावस्था का मानव जीवन तथा समृद्ध मेधस युक्त सप्त धातु से रचित शरीर रचना का संयुक्त रूप में होना समझा गया है । इसके साक्ष्य में जीवन अपने जागृति को मानव परंपरा में प्रमाणित करने का सुखद-सुन्दर, समाधानपूर्ण स्थिति-गति की समीचीनता को समझा गया है और संप्रेषित किया गया है । यही मानव संचेतना की महिमा और गरिमा है । इसी के फलन में परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था और अखण्ड समाज सार्वभौम रूप में सफल होना समीचीन है ।

जागृत संचेतनापूर्वक ही मानव अपने दायित्व-कर्तव्यों को मानवीयतापूर्ण आचरण सहित निर्वाह करने की आवश्यकता, उपयोगिता, सदुपयोगिता, प्रयोजनशीलता को समझने के उपरान्त ही इस समाजशास्त्र में संप्रेषित किया गया है । इसी के आधार पर सम्बन्ध-मूल्य-मूल्यांकन सहज रूप में ही मानव तथा नैसर्गिक सम्बन्ध में सफल होने की विधियों को इसमें अध्ययन करने की विधियों से प्रस्तुत की गई हैं ।

सम्बन्ध-मूल्य-मूल्यांकन, उभयतृप्ति के आधार पर ही मानव सहज सम्पूर्ण आयाम, कोण, दिशा, परिप्रेक्ष्य सहित उत्सवित होने के समीचीन प्रकारों को आहार-विहार, व्यक्तित्व, स्वयं के प्रति विश्वास, श्रेष्ठता के प्रति सम्मान, प्रतिभा और व्यक्तित्व में संतुलन, व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबन की स्थिति-गति का अध्ययन प्रस्तुत है और सम्पूर्ण उत्सव मानव व्यवहार, कर्म, अभ्यास, अनुभवों के आधार पर ही सम्पन्न होने के तथ्य को उद्घाटित किया गया । विश्वास है कि व्यवहारवादी समाजशास्त्र के अध्ययन से मानव को भोगोन्मादी समाज और उसकी संकीर्णतावश घटित पीड़ा से

मुक्त होने का अवसर मिलेगा । सार्वभौम व्यवस्था और स्वतंत्रतापूर्वक इस धरती में हर मानव स्वायत्त होंगे और संपूर्ण परिवार समाधान, समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्ववादी सूत्र से सूत्रित होंगे । वर्तमान में विश्वास और भविष्य के प्रति आश्वस्त होगा और इसकी अक्षुण्णता सदा-सदा मानव परंपरा में बना ही रहेगा ।

जय हो ! मंगल हो !! कल्याण हो !!!

ए. नागराज

प्रणेता : मध्यस्थ दर्शन,

अमरकंटक

अध्याय १: मानव परंपरा में अनेक समुदाय और सामाजिक पराभव एवं वैभव सहज संभावना

प्राचीन समय से अन्य शब्दों की तरह समाज शब्द भी प्रचलित रहा है । समाज शब्द का ध्वनि निर्देश तब बनता है जब इसके पहले एक निश्चित वस्तु (वास्तविकता) हो, उसे नाम चाहिए जैसे - हिन्दू समाज, मुसलमान समाज, ईसाई समाज, आदि । ये सब अपने को श्रेष्ठ मानते रहे हैं ।

श्रेष्ठता का मूल तत्व पुण्य कार्यों को मानने, अनुसरण करने से है । पुण्य कर्म पूजा, आराधना, प्रार्थनाएँ हैं । इन पुण्य कर्मों, प्रतीकों, पुण्य स्थलियों में विविधताएँ हैं । इन सबके मूल में परम

पावन वस्तु 'ग्रन्थ' है । ये सभी 'ग्रन्थ' अलग-अलग नामों से ख्यात है । इन सभी 'ग्रन्थों' में स्वर्ग-नर्क, पाप-पुण्य का वर्णन है । इन पावन ग्रन्थों में जितनी भी वाणियाँ हैं, वे सभी ईश्वर, आका, देवदूत की वाणी अथवा आकाशवाणी माने गये हैं । यह सर्वविदित है ।

इस प्रकार समाज शब्द के पहले अवश्य ही कोई धर्म, सम्प्रदाय, जाति, समुदाय का योग होना देखा गया है ।

इस परिप्रेक्ष्य में उल्लेखनीय मुद्दा यही है कि इन सभी पावन ग्रन्थों के अध्ययन से सर्वतोमुखी समाधान की अपेक्षा रही है । यह अपेक्षा अभी भी यथावत् है । यही अग्रिम शोध का प्रवर्तन कारण है अर्थात् पुनर्विचार के लिए पर्याप्त मुद्दा है । ऐतिहासिक गवाही के अनुसार ये सब समाज, धर्म और राज्य का दावेदार है । प्राचीन समय से अभी तक (बीसवीं शताब्दी के दसवें दशक तक) धर्म व राज्य के इतिहास के अनुसार मतभेद, युद्ध, कहानियाँ लिखा हुआ है । ये सब इतिहास वार्ता से सकारात्मक विधि से पता चलता है कि राज्य और धर्म पूरकता विरोधी हैं । जबकि मानव कुल में सर्वशुभ और उसकी निरन्तरता आवश्यक है । यह भी अनुसंधान का मुद्दा है ।

आदिकाल से सभी धर्म और राज्य जनसामान्य के सुख-चैन का आश्वासन ग्रन्थों और भाषणों में देते रहे हैं । धर्म व राज्य गदियाँ सदा ही सम्मान का केन्द्र रहे हैं । लोक सम्मान इनमें अर्पित होता ही आया है । बीच-बीच में विद्रोह भी घटित होता रहा व दोनों गदियों में चौमुखी असमानता देखने को मिलता है ।

शोध के लिए प्रश्न:-

1. सर्वतोमुखी समाधान कैसे हो ?
2. सर्वशुभ कैसे हो ?
3. असमानता निराकरण कैसे हो ?

चौमुखी असमानताएँ ः

1. 1. धनी/निर्धनी ः जो संग्रह किए हो वह धनी ।
2. 2. बली/दुर्बली ः जो ज्यादा मार-काट करता हो वह बली ।

3. 3. ज्ञानी/अज्ञानी ः जो ज्यादा प्रवचन करता हो ज्ञानी । जो प्रवचन सुनता हो अज्ञानी ।
4. 4. विद्वान/मूर्ख ः जो ज्यादा किताब पढ़ा हो वह विद्वान ।

ये चारों प्रकार की असमानताएँ राज्य, धर्म और परंपरा की ही देन हैं, क्योंकि राज्य और धर्म प्रभावशाली परंपरा रही हैं । इस धरती पर चारों प्रकार से सम्पन्नता-विपन्नता का चौखट बना ही है जिसे मानव भोग रहा है । इस धरती में देखा गया है कि राज्य-राज्य की परस्परता में विरोध सदैव बना ही है । धर्म-धर्म की परस्परता में वाद-विवाद या विरोध बना ही है । ऐसी स्थिति में चौमुखी असमानता निराकरण कैसे हो यह भी अनुसंधान-शोध का मुद्दा है । इन्हीं अनुसंधान द्वारा जनमानस के सब प्रश्नों का समाधान सर्वशुभ होना चाहिए या नहीं चाहिए ? चौमुखी असमानता दूर होनी चाहिए या नहीं होनी चाहिए ? सर्वतोमुखी समाधान चाहिए या नहीं चाहिए ? इन सभी प्रश्नों का सकारात्मक उत्तर जिससे मिलता है उसे अपना ही सर्वशुभ है ।

क्या समाज का मूल रूप समग्र मानव होगा या नहीं होगा ? यह भी विचारणीय बिन्दु है । जबकि समग्र मानव ही अखण्ड समाज का आधार है तब, अभी तक विद्वान विचारकों को इसे पहचानने में क्या अड़चने रहीं ? यह सब विचारणीय बिन्दु और प्रश्न चिन्ह हैं । अभी तक परंपरा में समुदायों को समाज माना गया है । इन सब मुद्दों के मूल में मानव का अध्ययन न हो पाना है । मानव समाज में मानव का कार्य व आचरणों के निश्चयन का आधार क्या है?

राज्य और धर्म से अब तक जो उपकार हुआ है; इसके लिए कृतज्ञ होना आवश्यक है । धर्म और राज्य मानव कुल में निश्चित समाज आश्वासन के साथ आरंभ हुआ है । इसकी गवाही में इन उल्लेखों को देखा जा सकता है, कि सभी धर्म ग्रन्थों में अज्ञान स्वयं ही दुख है । अज्ञान को ज्ञान में, पाप को पुण्य में, स्वार्थ को परमार्थ में परिवर्तित करने के लिए उपाय, उपदेशों को प्रस्तुत किया है और राजगद्दी, जान-माल की सुरक्षा का आश्वासन देता है । अभी भी देता है साथ में सीमा सुरक्षा क्रम अपनाये हैं जिसमें सभी अपराध को वैध मान लिए हैं । दोनों विधा का भरपूर आश्वासन उस समय के लिये आवश्यक रहा जब मानव चौमुखी (चारों प्रकार के) भय से तस्त रहा है । उस समय में आश्वासन व शरण की आवश्यकता रही । तत्कालीन तपस्वीयों ने तत्कालीन जनमानस पीड़ा को सांत्वना प्रदान की । यहाँ उस समय में आश्वासन और शरण की आवश्यकता रही । जनमानस में

एक नया उमंग तैयार हुआ जैसा पहले से नस्ल रंग के आधार पर मानव से मानव का खतरा मंडराता ही रहा । अन्य प्रकार का भय सताता ही रहा है । इसी बीच जंगल, डण्डा, शिला और धातु युग तक पहुँच चुके थे; कृषि, पशुपालन, पर्णपत्र, कुटीरों तक पहुँच चुके थे, ऐसा समझ सकते हैं ।

जब से राज्य धार्मिक राज्य बने; या धर्म और राज्य प्रभावी हुआ तब से अभी तक धर्म संविधान यथावत् बना ही है । धर्म संविधान के अनुरूप राज्य व्यवस्था और कार्य सम्पन्न होता रहा है ।

(कालान्तर में वैज्ञानिक युग में धन और सामरिक शक्तियों पर आधारित राज्य व्यवस्था की कल्पना उदय हुई ।) धर्म संविधान ईश्वर प्रसन्नता के आधार पर सम्पन्न होता रहा । हर राष्ट्र किसी न किसी धर्मावलंबी रहा ही है । हर राजा किसी न किसी धर्म प्रतिबद्धता से बंधे रहे । अधिकांश देश व राष्ट्र में जो राजा का धर्म रहा, वही प्रजा का धर्म माना जाता था । स्वर्ग-नरक, ईश्वर की खुशी-नाराजगी के मिसाल इसके लिये उन-उनके तरीके सलूकों, मान्यताओं को सही एवं अन्य धर्मों के तरीकों आदि को गलत मानते रहे । तरीके, प्रतीकों की भिन्नता ही धार्मिक संप्रदायों की परेशानियों का कारण बना रहा । इसी मान्यतावश धीरे-धीरे कुछ लोगों को धर्म से अरूचि होती रही । कालान्तर में वैज्ञानिक युग प्रारंभ हुआ । वैज्ञानिक अनुसंधानों की सार्थकता सटीकता जनमानस तक पहुँचने लगी । फलस्वरूप स्वर्ग में वर्णित अधिकांश सभी वस्तुयें पैसे से खरीदने की स्थिति बनी । प्रतीक मुद्रा पत्र मुद्राओं के रूप में मुद्रा प्रचलन बना । प्रतीक मुद्रा संग्रह के लिये सरल हो गया । आस्थाओं में ढिलाई व्यक्तियों में बढ़ते आया । इसका प्रमाण राजगदियाँ, धार्मिक राज्यनीति से आर्थिक राज्यनीति में अन्तरित हुआ । धार्मिक राज्यनीति पर आधारित राज्यनीतियाँ बदलता गया । अभी सर्वाधिक राज्य आर्थिक राज्य के रूप में अन्तरित हो चुके हैं । इसी क्रम में जनमानस आर्थिक लाभ की ओर बढ़ा; व्यापार पहले से ही लाभवादी रहा है । धर्म गदियाँ भी मुद्रा संग्रह के पक्ष में उतर गयी । मुद्रा के आधार पर अधिकांश ज्ञानी, विद्वान, परमार्थी होने की उम्मीद करते हैं । इतना ही नहीं धर्म गदियाँ पैसे की मानसिकता का पक्षधर हुई । ज्ञान पूर्वक पाप मुक्ति, स्वर्ग मुक्ति का आश्वासन मुद्रा के आधार पर विलास में खो गया है ।

निष्कर्ष - सम्पूर्ण प्रकार के धर्मों का कार्यरूप रहस्यमूलक आश्वासन, उपदेश, रूढ़ी, मान्यता व प्रतीकों पर आधारित होना रहा । मानव सहज शुभकामना (सुख आश्वासनों के रूप में बताया जाता रहा है) की असफलता की पीड़ा, समाधान की आवश्यकता के रूप में बढ़ी । अर्थात् राज्य और धर्म

का प्रभाव, सुख कामना का जनमानस में उदय होने में उपकार किया है । यह एक सकारात्मक पक्ष है । इसी दौरान किया गया मन भेद द्वेष, विद्रोह, द्रोह, युद्ध, शोषण, लूट, विध्वंस, घृणा, उपेक्षा, प्रायश्चित्त रूपी हिंसा ये नकारात्मक पक्ष है ।

यही सुखापेक्षा आर्थिक राजनीति, संग्रह सुविधा के लिए प्रवृत्ति को दिशा दिया । इसके सहायक यांत्रिक बलों से धरती का शोषण, संग्रह-सुविधा के आधार पर मानव का भी शोषण देखने को मिला । यह सर्वविदित है । इस प्रवृत्ति और कार्यविधान के आधार पर धरती का शोषण, प्रदूषण, मिलावट, भ्रष्टाचार, कुकर्म (अर्थात् परधन, परनारी/परपुरुष, परपीड़ा कार्य) करने की प्रवृत्ति सामान्य जनता में भी पहुँची । युवा पीढ़ी में और बाल पीढ़ी में इन सभी कुकर्मों में दिलचस्पी पैदा हुई, स्थापित हुई । इसके लिए सटीक माध्यम सर्वविदित है जो नकारात्मक पक्ष है ।

सकारात्मक पक्ष सम्पूर्ण वैज्ञानिक उपलब्धि जैसे दूरश्रवण, दूरदर्शन, दूरगमन संबंधी वस्तुओं की उपलब्धि महत्वपूर्ण रही । फलस्वरूप आँख, कान, मुँह और पैर की दूरियाँ घट गई । उत्पादन कार्य में गति आई उसके अनुकूल तकनीकी विधाएँ विकसित हुई, यही सकारात्मक पक्ष है ।

उपरोक्त विधि से सम्पूर्ण विश्लेषण और समीक्षाएँ घूम-घूमकर परिवर्तनों के साथ-साथ भय की पीड़ा यथावत् बना रहना ही पुनर्परिवर्तन, उसके योग्य समाजशास्त्र की आवश्यकता पर ध्यान दिलाता है । भय सदा-सदा ही प्रश्न चिन्ह का या समस्या का कारक तत्व होना पाया गया । मानव मूलतः समस्या और भय-प्रताड़ना से मुक्त होना चाहता ही है । इसी क्रम में आस्थावादी और वस्तुवादी प्रलोभन, दोनों में डूबकर देखा है । पुनः यही बारंबार दोहराता है । वस्तुवादी प्रलोभन से आस्थावादी प्रलोभन और आस्थावादी प्रलोभन से वस्तुवादी प्रलोभन तक ही सभी समुदायों की यात्रा सीमित रह गई है । अभी तक मानव कुल में प्राप्त दर्शन, विचार, ज्ञान की लम्बाई-चौड़ाई-गहराई इतनी ही है । इन्हीं आस्थाओं पर आधारित प्रलोभनों की श्रेष्ठता बताने वाले वर्ग अथवा इसे आजीविका के लिए उपयोग करने वाले समुदाय आस्थावादी प्रलोभनों का उपदेश देते व्रत, नियम, उपवास, अभ्यास, अर्चना, प्रार्थना, योग, जप, यज्ञ, तप आदि उपायों को सुझाते हैं । सर्वाधिक ऐसे उपदेश करने वाले व्यक्ति को हम इसी स्वरूप में पाते हैं । जैसे - आस्थावादी प्रलोभन के अनुसार अपूर्व यान-वाहन, भोगद्रव्य साधन सभी बिना कुछ किये मिलने का आश्वासन प्रकारान्तर से सभी धर्म गाथाओं में, उपदेशों में बताया जाता है । इसके आगे भी स्वर्ग सुख से आगे मोक्ष सुख को बताया है । उसे अनिर्वचनीय

कहकर छोड़ दिया है । उसके लिये भी विविध साधना शैली बता चुके हैं । विद्वान मेधावियों को विदित है । चाहे आस्थावादी बनाम स्वर्गवादी प्रलोभन हो, अथवा वस्तुवादी प्रलोभन हो, कामना तृप्ति, अथवा इन्द्रिय लिप्सा के अर्थ में क्यों न हो, मूल मानसिकता एक ही है । इसमें मौलिक अन्तर क्या है ? मौलिक अन्तर यही मूल्यांकन करने को मिला कि आस्थावादी प्रलोभन इस शरीर यात्रा में अथवा इस शरीर के द्वारा अपराध कार्यों में, हिंसक कार्यों में भागीदारी को अस्वीकार किया रहता है । ऐसी आस्थावादी प्रलोभन का उपदेश देने वाले ढेर सारी वस्तुएँ एकत्रित किये ही रहते हैं । इसे उपदेश का फल, ईश्वर का देन मानते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि आस्थावादी प्रलोभन से प्रभावित व्यक्ति थोड़े समय तक अथवा अधिक समय तक संग्रह, सुविधा, हिंसा कार्यों से दूर रहना पसंद किये रहते हैं । वही व्यक्ति जब उपदेशक हो जाता है, उस समय में संग्रह-सुविधा को हक मान लेता है, फलस्वरूप उससे संबंधित सभी गुण उनमें होना पाया जाता है । नकारात्मक पक्ष के गुणों का भी होना पाया जाता है । अन्य जो संग्रह-सुविधा भोग से लिप्त रहते हैं उसे धार्मिक उपदेशों और उसमें भरोसे के अनुसार पुण्य का फल माने ही रहते हैं । इसी कारणवश संग्रह-सुविधा सम्पन्न वर्ग, संग्रह-सुविधायें सम्पन्न उपदेशकों का सम्मान करते आये हैं । जिनके पास संग्रह-सुविधायें नहीं हैं उनमें से कुछ हतप्रभ होकर ऐसे उपदेशकों को सम्मानित करने के लिये इच्छाओं से सम्पन्न होते हैं, और कुछ लोग सम्मानित करने योग्य न होने के कारण अपने को कोसते भी हैं, धिक्कारते भी हैं, कुण्ठित भी होते हैं । इस विधि से उपदेश ग्रंथ सम्मान के योग्य हुआ है । ऐसे ग्रन्थों के आधार पर किये जाने वाले उपदेशकों को सम्मानित करने की परंपरा बनाये हैं । इसी परंपरा क्रम में जिस उपदेशक का उपदेश गद्दी, संग्रह, सुविधा सम्पन्न रहता है उसी को सर्वाधिक पुण्य का फल माना जाता रहा है । ये सब पाप-पुण्य का नजरिया या आस्थावादी प्रलोभन का प्रारूप बताया गया है ।

इस धरती पर सुविधा संग्रह प्रक्रिया का अध्ययन करने से पता चलता है कि संग्रह-सुविधायें प्रौद्योगिकी व्यापार से होता हुआ देखने को मिलता है । व्यापार और प्रौद्योगिकी के लिए धरती के ऊपर और धरती में निहित सम्पदा ही एकमात्र स्रोत होना सबको दिखती है । धरती के ऊपर वन खनिज होते हैं, धरती के अन्दर खनिज होते हैं । ऊपर जो खनिज और वन रहते हैं उनमें से कुछ आवर्तनशील रहते हैं, कुछ आवर्तनशील होते नहीं । जैसे वन-वनस्पतियाँ बीज-वृक्ष नियम विधि से आवर्तनशील होते हैं, मृत्-पाषाण, मणि-धातुओं के रूप में और मणि-धातुएँ, मृत्-पाषाणों के रूप में

भी परिवर्तित होता हुआ देखने को मिलता है । इसी के साथ महिमा सम्पन्न मुद्दा यही है धरती अपने वातावरण सहित धरती सम्पूर्ण है । वातावरण का संतुलन अपने आप में वायु का संतुलन है, धरती का संतुलन ठोस और तरल-विरल पदार्थ का संतुलन है । ठोस, तरल, विरल वस्तुओं में सह-अस्तित्व, अविभाज्यता, पूरकता संतुलन के ध्रुव पर दिखाई पड़ती है । इस प्रकार धरती के संतुलन की महिमा, उसकी अनिवार्यता अपने-आप में स्पष्ट है तभी मानव इस धरती पर उदय हुआ है ।

प्रौद्योगिकी विधि जो उपभोक्तावादी, संचार क्रमवादी, सामरिक तंत्रवादी विधियों से आरंभ हुआ, अभी भी इन तीन कोणों में अपने यांत्रिक उपक्रमों का विस्तार हो ही रहा है । यह सर्वविदित है । इन उपक्रमों के चलते ईंधन संयोजन एक मूलभूत उपक्रम है । ईंधन संयोजन का जो कुछ भी वस्तुएँ हैं वह वन खनिज तेल और खनिज कोयला हैं, जिसको वृहद ईंधन सामग्री मानते आये हैं, इसी का अर्थात् ईंधनावशेष का नकारात्मक प्रभाव पर्यावरण के क्षेत्र में प्रभावित होना भी विदित है । इस प्रकार हम सभी उपभोक्तावादी प्रचूर वस्तुओं को उत्पादन करने के लिये जुड़े ही हैं । इसी सिद्धान्त से शोषण प्रदूषण कार्य से भी जुड़े हुए हैं जो स्वयं किसी व्यक्ति को स्वीकार्य नहीं है । इस तथ्य का इसीलिये यहाँ स्मरण दिलाया कि यह समाजशास्त्र है, सामाजिकता के नजरिये में पर्यावरणीय संतुलन भी एक अनिवार्य आयाम है क्योंकि पर्यावरण संतुलन = धरती का संतुलन = खनिज, वनस्पतियों का संतुलन = ऋतु संतुलन = अन्न-वनस्पतियों, जीवों और मानवों का नित्य संतुलन । इस सूत्र से यह भी पता लगता है कि विज्ञान का इतिहास और वर्तमान में दिखता हुआ पर्यावरणीय परिणाम, दोनों का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विज्ञान विधियाँ संतुलन के लिये शुरूआत ही नहीं किया । इनके संतुलन का कोई मापदण्ड आरंभिक विज्ञानियों के हाथ नहीं लगा जबकि जीते-जागते हुए हर ज्ञानी, अज्ञानी, विज्ञानी, मूर्ख ऋतु संतुलन को देखते ही है । जिस देश और ऋतु काल में जो-जो अन्न वनस्पतियाँ, पेड़-पौधे और वन पुष्ट होता है वे सबको दिखता ही है । यही मुख्य बात है । इस प्रकार धरती का संतुलन बनाम ऋतु संतुलन का क्रम के चलते जीव व वनस्पतियों में संतुलन को देखा गया । धरती के साथ मानव द्वारा किया हुआ कार्यकलाप को देखते हुए मानव स्वयं संतुलित रहा या नहीं रहा इस बात को सोचने के लिये हम बाध्य होते हैं । पहले इस बात को बताया जा चुका है कि विज्ञान विधि से धरती के संतुलन का मापदण्ड उल्लेखित नहीं है और सकारात्मक विधि से मानव ही इसे तय कर सकता है ।

इस शताब्दी के दसवें दशक तक मानव ने अनेक समुदाय या भाँति-भाँति समुदाय परम्परा के रूप में अपने-अपने को प्रकाशित किया है । जिसमें जागृति का संकेत भय, प्रलोभन, आस्था, प्रिय हित, लाभ, सुविधा, संग्रह, भोग इन नौ बिन्दुओं में अवसर आवश्यकता और चित्रण के रूप में प्रस्तुत हो पाया ।

प्रिय = इन्द्रिय सापेक्ष प्रवृत्ति प्रक्रिया ।

हित = स्वास्थ्य सापेक्ष प्रवृत्ति प्रक्रिया ।

लाभ = ज्यादा लेने कम देने की प्रवृत्ति प्रक्रिया ।

भय = भ्रम = अतिव्याप्ति, अनाव्याप्ति, अव्याप्ति दोष ।

प्रलोभन = संग्रह, सुविधा, भोग, अतिभोग प्रवृत्ति प्रक्रिया ।

आस्था = किसी के अस्तित्व को न जानते हुए मानना (स्वीकारना) ।

सुविधा = सौन्दर्य कामना सहित, इन्द्रिय लिप्सा समेत उपभोग करना ।

संग्रह = प्रतीक मुद्रा को भविष्य में सुविधा भोग कामनापूर्वक कोष रचना रूप प्रदान करना ।

भोग = भय, शंका, रहस्य मानसिकता सहित वस्तु और यौन सेवन मानसिकता और कार्य-व्यवहार ।

इन परिभाषाओं के ढाँचे-खाँचे में सुदूर विगत से आयी समुदाय परंपराएँ सकारात्मक पक्ष के रूप में चित्रित, व्यवहृत किये जाने का साक्ष्य समाजशास्त्र में (प्रचलित) देखने को मिलता है । इसी के साथ समुदाय-समुदायों के बीच वर्तमान घटनाओं के रूप में घृणा, उपेक्षा, युद्ध का भी जिक्र है । इसी के साथ शोषण, अपहरण आदि का भी उल्लेख है । ये सब नकारात्मक पक्ष है । फिर भी इसमें ग्रसित रहने के लिए सभी समुदाय मजबूर है ।

समुदायों के रूप में मानव पहचानने का आधार और उनका सीमा चित्रण :-

इस धरती पर मानव में भिन्नताओं सहित परिवार एवं समुदाय को अपनत्व दायरा की मानसिकता के रूप में विकसित होना पाया जाता है । उल्लेखनीय घटना यह है कि द्वेष मुक्त समुदाय एवं परिवार नहीं हो पाये हैं । हर मानव समुदाय को समाज कहता हुआ, समाज कल्याण एवं विकास का भाषण प्रवचन करता है । परिवार का हित चाहता है । परिवारगत कुकर्मों, अत्याचारों को छिपाने में एक दूसरे का सहायक होना सर्वाधिक रूप में देखा गया है । ऐसे समुदाय दो प्रकार के आधारों पर स्पष्ट हुए हैं । पहला आहार सेवन, वस्त्र, साज-सुविधाओं का प्रस्तुतीकरण, आगन्तुकों-अतिथियों के साथ संबोधन प्रस्तुति या विवाह आदि घटनाओं का निर्वाह विधि प्रक्रिया, गायन, रचना, गाने की लय, ताल, नृत्य इन आधारों पर संस्कृतियों को पहचाना गया है । दूसरे क्रम में संस्कृति को पहचानने का प्रधान कार्य उपासना, आराधना, प्रार्थना अभ्यास, उनमें विन्यास कृत्यों (कर्मकाण्डों) । पहले विधा में बताये गये सभी विन्यास दूसरे क्रम में भी रहता है । दोनों विधा विविधता सहित होना पाया जाता है ।

संस्कृति के साथ सभ्यता का पहचान हर समुदाय स्वीकारा है । सभ्यता विशेषकर आगन्तुक व्यक्ति के साथ किया गया संबोधन परस्पर परिचय क्रम, परस्परता में घटित घटना, हाट (बाजार), सभा, सम्मेलनों में राजधर्म, संबंधों में आशय, मार्गदर्शन, निर्देशन का अनुसरण सभ्यता के मूल में स्पष्ट है । संस्कृति सभ्यता विधि व्यवस्था का नाम हर परंपरा, समुदायों के मूल में होना पाया जाता है । धर्म संविधान और राज्य संविधान दोनों संविधानों में शक्ति केन्द्रित है, दिखती है । सभी राज्य (आर्थिक राज्यनीति सम्पन्न संविधान) संविधान शक्ति केन्द्रित शासन के रूप में है । इसका व्यवस्था सुविधावादी होना भी देखा गया है ।

धर्म संविधान के अनुसार भी द्वन्द्व, प्रायश्चित, बहिष्कार रूप में शक्ति केन्द्रित रहा है । यहाँ धार्मिक राज्य (ईश्वरीय राज्य) के रूप में मान्यतायें प्रभावित रहा है । हर संविधान के अनुसार सम्प्रभुता, प्रभुसत्ता, अखण्डता, अक्षुण्णता का दावा करते रहते हैं अर्थात् सभी संविधानों का प्रभाव सीमा सहित रहना पाया जाता है । उस सीमा में कोई समुदाय रहता ही है ।

समुदाय चित्रण स्वरूप निम्नतः है ः-

1. नस्ल रंग - भौगोलिक परिस्थिति और वंशानुषंगीयता ।

2. रंग नस्ल - संचेतना हर रंग नस्ल वाले मानव में जीवन शक्ति, बल, लक्ष्य समान रूप में रहती ही है इसलिये ये सब मानव के रूप में पहचानने योग्य है और आवश्यकता है ।
3. जाति - मानव की जाति एक, कर्म अनेक हैं । जबकि विभिन्न आजीविका के आधार पर आज विभिन्न जाति मानते हैं ।
4. मत - प्रामाणिकता को प्रतिपादित करने के क्रम में सम्मतियों का सत्यापन मत है । जबकि वाद-विवाद को आज मत माना जाता है ।
5. पंथ - किसी मत/धर्म के आनुषंगिक निश्चित व्यक्ति का पहचान सहित आस्था रखने वाली परंपरा ।
6. परंपरा - पूर्णता के अर्थ में समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व पंथ या परंपरा हो, जबकि आज रूढ़ियों को परम्परा माना जाता है ।
7. धर्म = धारणा - जिससे जिसका विलगीकरण न हो । मानव धर्म सुख है । सुख, मानव से विभाजित नहीं किया जा सकता । सुख = समाधान = व्यवस्था + व्यवस्था में भागीदारी । वक्तव्य - सुदूर विगत से धर्म का भाषा प्रयोग हुई । धर्म अपने मूल रूप में किसी भी शास्त्र में प्रतिपादित हुआ नहीं । धर्म के लक्षणों को विभिन्न जलवायु में विभिन्न समुदाय धर्म मानते हुए आज तक चल रहे हैं ।
8. भाषा - सत्य भास जाए यही भाषा है । भाषा के प्रयोग में हम संप्रेषणा शब्द प्रयोग करते हैं । पूर्णतया प्रेषित हो जाना संप्रेषणा का तात्पर्य है । इस प्रकार भाषा संप्रेषणापूर्वक परंपरा में सार्थक होना उसकी महिमा है । जबकि सत्य मानव कुल में प्रमाणित न होने के कारण भ्रमित रूप में अपने इच्छा, कामना और कल्पनाओं को एक दूसरे तक पहुँचाने के लिये भाषाओं का प्रयोग किया गया ।
9. देश - इस धरती पर किसी सीमित भौगोलिक परिस्थिति सहित क्षेत्रफल है ।
 - a. वक्तव्य - इस क्षेत्रफल में निवास करने वालों को उस क्षेत्र का नाम दिया जाता है ।
10. धन - संग्रह के आधार पर । शोषण पूर्वक ही संग्रह होता है ।
11. पद - भ्रमित रूप में मान्य शक्ति केन्द्रित शासन में भागीदारी ।

जागृति क्रम में दो पद (पशुमानव, राक्षसमानव) और जागृति पूर्वक तीन पद है । अस्तित्व में चार पद हैं - प्राणपद, भ्रांतपद, देवपद और दिव्यपद (पूर्णपद) हैं । जिसको सटीक देखा गया है ।

ऊपर वर्णित क्रम में विविध समुदायों के रूप में पनपता हुई परंपरायें अपने-अपने परंपरानुगत विधि से पीढ़ी से पीढ़ी को क्या-क्या सौंपते आये और इस बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में जीती जागती पीढ़ी को क्या से क्या सौंप गया है । इन मुद्दों पर एक सामान्य अवलोकन आवश्यक है ।

परंपरा विगत में मानव, मानव के साथ क्या किया ? मानव मानवेत्तर प्रकृति के साथ क्या किया? यही दो अवलोकन का मुद्दा है ।

अभी तक अनेक समुदाय परंपराओं के रूप में विविध आधारों के साथ पीढ़ी से पीढ़ी को अनुप्राणित करता हुआ देखा जा रहा है । अनुप्राणित करने का तात्पर्य जिस-जिस परंपरा जिन-जिन आधारों अथवा मान्यताओं के साथ मानसिकता को, प्रवृत्तियों को, प्राथमिकताओं को अपनाते हुए आये हैं उसे अग्रिम पीढ़ी में स्थापित करने के लिए किया गया क्रिया-प्रक्रिया और संप्रेषणाओं से है । यह भी हम हर परंपराओं में देख पाते हैं कि वही मानसिकताएं विविधता के साथ प्रचलित है । विविधताओं में से अपना-पराया एक प्रधान मुद्दा है । इनके समर्थन में संस्कार, शिक्षा, संविधान और व्यवस्था परंपराएँ प्रधान हैं । दूसरे विधि से संस्कृति सभ्यता विधि-व्यवस्था के रूप में होना देखा जाता है । तीसरे विधि से रोटी, बेटी, राजनीति और धर्मनीति में एकता के आधार पर भी समुदायों का कार्य-व्यवहार दिखाई पड़ती है ।

शिक्षा विधि प्राचीन समय से ऊपर कहे तीन प्रकार के एकता-अनेकता के आधार पर संपन्न होता हुआ इतिहासों के विधि से समझा जा सकता है । हर संविधान जो-जो धर्म और राज्य का संयुक्त मानसिकता के साथ चलने वाले सभी समुदाय अथवा प्रत्येक समुदाय अपने-अपने धर्म, अथवा राज्य मानसिकता के आधार पर और उसके समर्थन में शिक्षा-संस्कारों को स्थापित करने में सतत जारी रहा । कालक्रम से अधिकांश देशों में धार्मिक राज्य के स्थान पर आर्थिक राज्य, संविधान, विज्ञान के सहायता से स्थापित होता आया क्योंकि विज्ञान की सहायता से सामरिक दक्षता को बढ़ाने का अरमान प्रत्येक राजसंस्था का अपरिहार्य बिन्दु रहा । इसी सत्यतावश विज्ञान और तकनीकी इन्हीं अपरिहार्यता की सहयोगी होने के आधार पर विज्ञान का बढ़ावा, बिना किसी शर्त के होता रहा ।

विज्ञान मूलतः प्रकृति पर शासन करने के लिये अथवा प्रकृति पर विजय पाने के लिए शुरूआत किया । प्राकृतिक घटनाओं से भयभीत अथवा प्राकृतिक संपदा से प्रलोभन मानस सम्पन्न मानव इस आवाज को स्वीकार कर लिया, अपने पक्ष का है मान लिया । इसी बीच विज्ञान भले ही सामरिक मानसिकता की पुष्टि में कार्य किया हो क्योंकि उसे राजाश्रय की आवश्यकता रही है । साधारण रूप में समीचीन परिस्थिति के अनुसार जो कुछ भी विज्ञान और तकनीकी से संभव हो पाया उससे मानव सहज देखने-सुनने-करने की जो प्रवृत्तियाँ रही है, जिसको हर मानव ही जीवन सहज प्रवृत्तियों के आधार पर (चाहे वह भ्रमित रहा हो, निर्भ्रमित रहा हो) करते ही आया है । इसमें पारंगत व्यक्ति का निश्चित गति दूरी के आधार पर थी और बारम्बार उसी कार्य को सटीक रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता व प्रवृत्तियाँ कार्यों के रूप में प्रमाणित थी उससे कहीं अधिकाधिक, मानव में ही वांछित रूप में गतियाँ स्थापित हुई । यथा दूरश्रवण, दूरदर्शन, दूरगमन प्रौद्योगिकी स्वचालित, यंत्र-उपकरण कृषि कार्यों का यंत्रीकरण के रूप में मानव परंपरा को करतलगत हुआ । भौतिक रासायनिक शोध जितने भी हो पाये उन्हीं के आधार पर जितने भी यंत्र, रचनाएं सम्पन्न हुई उसका उपयोग सामान्य जनता के लिये उपलब्ध हो गया । मानसिकता और समझ समुदाय मानसिकता का मूलभूत आधार जो पहले चित्रित कर चुके हैं वह यथावत् रहते हुए देखने को मिलता है ।

हर समुदायों में संस्कृतियों के सम्बन्ध में जो आधार देखने मिलते हैं वह यही है कैसा गाते हैं, कैसा नाचते हैं, कैसा शादी करते हैं, जन्म और मृत्यु घटनाओं में कैसे उत्सव मनाते हैं, कैसे अलंकार करते हैं, यही सब प्रधान मुद्दे हैं । इसके बाद आज की स्थिति में अति प्रधान मुद्दा स्वास्थ्य संरक्षण है । स्वास्थ्य संरक्षण का प्रमाण संग्रह, सुविधा, भोग, संघर्ष कार्यों के साथ देखना आज की स्थिति में प्रचलित है । सभी समुदायों के साथ कोई न कोई भाषा बना ही रहता है । भाषा, संग्रह, सुविधा और सामरिक क्षमता के योगफल में विकसित, अविकसित, विकासशील के नामों से देशों को, समुदायों को पहचानने की तर्ज अथवा समीक्षा आज प्रचलित है ।

आज की स्थिति में विज्ञान शिक्षा की स्वीकृति सभी देश, सभी समुदायों में सहज रूप में होना पाया जाता है । ऐसे विज्ञान और तकनीकी से जो घटित हुआ वह पहले स्पष्ट हो चुका है । विज्ञान और वैज्ञानिकों का तर्ज प्रकृति पर विजय पाने की घोषणा रही, वह धीरे धीरे धीमा होता हुआ देखने को मिलता है । विशेषकर विज्ञान संसार अपने संपूर्ण ज्ञान प्रक्रिया सहित संतुलन और संभावना के

पक्षधर के रूप में दिखते हैं । इनके अनुसार संतुलन का तात्पर्य अपने प्रयोग विधि से जो कुछ भी घटना रूप में यंत्रों को प्राप्त किये यही इनका आद्यान्त प्रमाण है । ऐसे यंत्र और उनके अनुमानानुसार कार्य कर जाना संतुलन मानते हैं और ऐसे यंत्र अनेक बनने की सम्भावनाओं पर ध्यान दिये रहते हैं । जबकि मानव कुल का संतुलन मानव - मानव से, मानव और नैसर्गिकता से अपेक्षित है । यह प्रत्येक व्यक्ति अपने में समझ सकता है जबकि संतुलन मानव का सह-अस्तित्व सहज आवश्यकता उपलब्धि और उसका उपयोग-सदुपयोग और प्रयोजनों के रूप में होना स्वाभाविक है । प्रयोजन सदा ही संतुलन है जिसकी अपेक्षा सर्वमानव में होना पाया जाता है । संतुलन ही अभय समाधान के रूप में और अभय समाधान सहज विधि से सह-अस्तित्व क्रम में समृद्धि का होना पाया जाता है । सह-अस्तित्व क्रम का तात्पर्य चारों अवस्थाओं में परस्पर उपयोगिता, पूरकता ही प्रमाणित होने से है । अभय-समाधान क्रम का तात्पर्य व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी से है । समृद्धि का तात्पर्य परिवार सहज आवश्यकता से अधिक उत्पादन से है । यही विधि से ग्राम परिवार-विश्व परिवार पर्यन्त समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व प्रमाण क्रम में संतुलन और उसकी निरंतरता मानव परंपरा सहज होना निश्चित सम्भावना है, जिसकी आवश्यकता सर्वमानव में होना पाया जाता है । सम्भावनाएं नित्य समीचीन है ।

इस प्रकार संतुलन का अर्थ सुस्पष्ट हुआ । इसी क्रम में आदर्शवादियों का ईश्वरवाद, भक्तिवाद, विरक्तिवाद, उपासनातंत्रवादियों के अनुसार संतुलन का जिक्र हुआ है । विरक्ति, भक्ति, ईश्वर और आध्यात्मवादियों ने मोक्ष को संतुलन स्थली माना है । इनके संतुलन का अथवा मुक्ति का तात्पर्य दुःखों से मुक्त होना, ऐसे दुःख मायामोहवश, अज्ञानवश, पापवश, स्वार्थवश होना बताया गया है । विरक्ति, भक्ति, त्याग, वैराग्य, योग, अभ्यास, पूजा, पाठ, प्रार्थना आदि उपायों से दुःख निवृत्ति के लिये मार्ग बताया गया है । ईश्वर, परमात्मा, कृपा से मुक्ति बताए ।

पाप मुक्ति के क्रम में पापमुक्ति को निश्चित स्थान, व्यक्ति के सम्मुख किये गये पापों को स्वीकार किया जाना निवारण के लिए विविध उपाय बताया गया है । ऐसे पाप स्वीकृति से पाप कार्यों में प्रवृत्ति क्षीण होगी, ऐसा भी सोचा गया है ।

स्वार्थ, दुराव-छुपाव पाप के लिये कारण बताया । स्वार्थी के साथ संग्रह, सुविधा, भोग, अतिभोग, द्वेष यही प्रमुख विकारों को स्वीकारा गया । धार्मिक राजनीति के मूल में संग्रह-सुविधा अर्हता को ईश्वर

प्रतिनिधी, राजा राजगद्दी और ईश्वरीय मार्ग-दर्शक एवं ईश्वर प्रतिनिधि के रूप में गुरु को मानते हुए सर्वाधिक संग्रह-सुविधा के लिये हर मानव से अपर्ण-समर्पण, भाग और कर के रूप में प्रभावित रहना देखा गया । कालक्रम विज्ञान युग के अनंतर अधिकांश लोगों में संग्रह, सुविधा, भोग की आवश्यकता जग गई । इसके लिये संघर्ष ही एक मात्र रास्ता दिखाई पड़ा । इसलिये हर व्यक्ति, परिवार, समुदाय परस्पर संघर्ष के लिये अपने को तैयार करता रहा । आज भी सर्वाधिक व्यक्ति, परिवार, समुदाय संघर्ष के लिए तैयारी करता हुआ देखने को मिलता है । इसे हर व्यक्ति देख सकता है । भक्ति विरक्ति के मार्ग-दर्शकों के रूप में पहचाने गये विविध प्रकार के धर्म गद्दी यती, सती, संत, तपस्वी, ज्ञानी, भक्त, विद्वान ये सब अपने तौर पर बहुत सारा प्रवचन उपदेश करने के उपरान्त भी आमूलतः कोई प्रमाण परंपरा के रूप में व्यवस्था और शिक्षा के अर्थ को सार्थक बनाने के लिये अभी तक पर्याप्त नहीं हुआ । दूसरी विधि से शिक्षा व्यवस्था, अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था में, से, के लिये आवश्यकीय सूत्र-व्याख्या प्रमाण विधियाँ किसी एक परंपरा से अथवा संपूर्ण परंपराएं मिलकर अध्ययन गम्य विधि से प्रस्तुत नहीं हो पायी । इन्हीं कारणवश पुनर्विचार की आवश्यकता समीचीन हुई । विकल्प प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत है ।

आस्थावादी विचारों, प्रतिबद्धताओं सहित व्यक्त किया गया निष्ठा को पंथ, संप्रदाय, मत और धर्म के नाम से बताया गया है । ऐसी निष्ठाएँ एक-एक विभिन्नता के साथ देखने को मिली । यही आदर्शों का भी आधार होना पाया गया । ऐसी निष्ठाओं को सर्वाधिक लोग आदर्श मानकर स्वीकारते आये हैं । जैसे - 1. पूजा करने का तरीका, 2. इसके लिए उच्चारण का तरीका, 3. आशयों का तरीका, 4. मान्यताओं का तरीका । इन सबके मूल में पाये जाने वाले रहस्यमयी आधार जैसे - ईश्वर, देवी-देवता, ब्रह्म, परमात्माओं का स्वरूप, कार्य, महिमा वर्णन भी अतिरहस्यमयी होने के रूप में बताये जाने वाले वाङ्मय को पावन ग्रन्थों के रूप में माना जाता है । ऐसे वाङ्मय और मान्यताओं, महिमावर्णनों के साथ अनेकानेक व्यक्ति जुड़कर अनेक प्रकार से साधना, अभ्यास करने वाले लोग ही साधु, संत, तपस्वी, यति-सती, सब प्रख्यात हुए हैं । यही महापुरुषों के नाम से भी ख्यात हैं । ईश्वर ही अनेक अवतारों के रूप में, अवतारी पुरुष और अवतारों के नाम से स्थापित हुए । यह सब होने के उपरान्त भी समुदाय और उसकी मान्यताएँ अन्तर्विरोधी - बाह्य विरोधों सहित होना पाया जाता है । अंतर्विरोध का तात्पर्य जिस प्रकार के आदर्श वाङ्मय - आराधना आदि को मानते हैं उसी

में मतभेद होने से है । बाह्य विरोध का तात्पर्य एक-दूसरे को विधर्मी-अधर्मी, श्रेष्ठ-नेष्ठ क्रम में एक दूसरे के बीच दिखने वाली घृणा, उपेक्षा, भय और आतंक साक्षी है । मतभेदों, विरोधों के साथ भय और आतंक का होना स्वाभाविक है । इसके मूल में घृणा उपेक्षा तिरस्कार ये सब कारण है । इन आधारों पर अपने में अपर्याप्त रहते हुए अन्य समुदायों के साथ विरोधों को बनाए रखते हैं । ऐसे ही समुदाय विधि राज्य का आधार है । राज्य भी विरोधों के साथ अर्थात् अड़ोस, पड़ोस देशों को दुश्मन मानते हुए देशवासी गलती करते हैं, ऐसा मानते हुए संविधान में कानून-कायदा प्रक्रियाओं को स्थापित कर लिये हैं । यही मुख्य मुद्दा है कि अन्तर्विरोध, बाह्यविरोध रहते हुए समुदाय-समुदाय के बीच सामरस्यता संगीत हो कैसे ?

उक्त सभी प्रकार की विविधताएं राज्य और धर्मगद्दी के रूप में स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो पाते हैं । इन्हीं गद्दियों के कार्यक्रम कार्यवाही के फलस्वरूप अपने में अथवा अपने-अपने में अपरिपूर्णता, अपर्याप्तता के परिणाम में विज्ञान का स्वागत हुआ । इस शताब्दी के पूर्व विज्ञान तकनीकी दूर-दूर तक प्रवेश कर चुका था । इस शताब्दी के मध्य तक सब जगह पहुँच गया । इसके बावजूद समुदाय और विविधता यथावत् बना ही है । अन्तः कलह-बाह्य कलह भी वैसे हैं । इसलिये विज्ञान को अपनाने मात्र से परस्परता में अथवा अपने-अपने समुदाय में मतभेद और विरोधों का उन्मूलन नहीं हो पाया । यही हर समुदाय का अपर्याप्तता अर्थात् अपने में असंतुलित होने का द्योतक है । इसको परिवार में द्वेष, गाँवों में द्वेष, नगरों में द्वेष और गलती अपराधों शोषण के रूप में सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक असंतुलन के रूप में दिखता है । हर समुदाय संतुलित रहना चाहता ही है । इसी आधार पर हर मानव संतुलित रहना चाहता है । संतुलन का मूल तत्व आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक विधा ही है । सामाजिकता राज्य समेत ही वैभूवित होना पाया जाता है । राज्य का तात्पर्य ही वैभव है । समाज - वैभव का तात्पर्य पूर्णता के अर्थ में मानव अथवा सम्पूर्ण मानव उन्मुख होने से, प्रमाणित होने से हैं । इसीलिए समाज सहज अर्थ सार्थक होने के लिये हम समाज और समाजिकता का अध्ययन करेंगे ।

मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

प्रणेता एवं लेखक: अग्रहार नागराज

सम्पूर्ण वाङ्मय डाउनलोड:

www.madhyasth.org

www.bit.ly/dpsroot